हेमचन्द्राचार्य-निर्दिष्ट वाक्यविन्यास पद्धति का विश्लेषण[१]

वसन्तकुमार म. भट्ट

प्रबन्धोऽयं पाणिनि-हेमचन्द्राचार्यकृत्योः अष्टाध्यायी-सिद्धहेमशब्दानुशासनयोः समाश्रितवाक्यविन्यासक्रमं गभीरगवेषणशैल्या सन्तोल्य अनयोः वैशिष्ट्यं प्रतिपादयति। तत्र च कारकप्रकरणव्यवस्थापने हेमचन्द्राश्रित-वाक्यविन्यासस्य पाणिनीयादपि उपादेयतरत्वं प्रतिष्ठापयति।

भूमिका:- आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने ज्ञान की प्रत्येक शाखा में बड़े या छोटे ग्रन्थ लिखे हैं। उन्होंने जो भी व्याकरण, प्रमाण, काव्यशास्त्र, कोश, पुराणादि विषयक अनेकानेक ग्रन्थ लिखे हैं, उनमें से व्याकरण विषयक "सिद्धहेमशब्दानुशासन" ग्रन्थ सबसे अधिक ध्यानाकर्षक है।

यह शब्दानुशासन के पाँच अङ्ग हैं। जैसे कि १. सूत्रपाठ, २. धातुपाठ, ३. गणपाठ, ४. उणादिसूत्रपाठ और ५. लिङ्गानुशासन। इस पञ्चाङ्गी संस्कृत व्याकरण में जो अष्टम अध्याय है, उनमें विविध प्रकार की प्राकृत भाषाओं का भी व्याकरण दिया गया है और इन संस्कृत-प्राकृत व्याकरण के सूत्रों में जो जो शब्द निष्पन्न होते हैं, उसको उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करने के लिए आचार्य हेमचन्द्रजी ने 'द्व्याश्रय-महाकाव्य' एवं 'कुमारपालचरितम्' जैसे दो शास्त्रेतिहास-काव्य भी लिखे हैं। अतः आचार्य हेमचन्द्र सूरि का व्याकरणशास्त्र में जो अवदान है, उनकी मूल्यवत्ता गवेषणीय है।

यद्यपि पूरे 'सिद्धशब्दानुशासन' का परीक्षण करना यहाँ अभीष्ट नहीं है, फिर भी इस व्याकरण की हार्द रूप जो वाक्यविन्यास पद्धति है, उसकी समीक्षा

तो अवश्य करनी चाहिए। जिसके फलस्वरूप यह बात उजागर हो पायेगी कि पाणिनीय व्याकरण की तुलना में यह 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' का क्या वैशिष्ट्य है।

पाणिनीय व्याकरण में वाक्य एवं वाक्यांश का निष्पादन करने के लिए 'अष्टाध्यायी' सूत्रपाठ में कुल दो स्थानों पर दो सूत्रसमूह रखे गये हैं। जैसा कि– १. "कारकपाद" (१-४-२३ से ५४), और २. "विभक्तिपाद" (२-३-१ से ७७)। प्रथम 'कारकपाद' में क्रिया-निर्वर्तक विभिन्न कारकों का निरूपण किया गया है। भाषा में 'वाक्य' के बिना तो सम्भव ही नहीं है। दूसरे शब्द में कहे तो, किसी भी पदसमुदाय में यदि कोई क्रियापद नहीं है, तो वह पदसमुदाय 'वाक्य' नहीं कहा जाता है। अतः किसी भी वाक्य में "इदं प्रथमतया" क्रियापद का प्रवेश सबसे पहले ही होता है, परन्तु साथ में ही उस क्रिया, जो कि हमेशा साध्यकोटि में होने के कारण, उसके साधनों, अर्थात् क्रियानिर्वर्तकों- 'कारकों' का भी निरूपण आवश्यक बन जाता है। अतः पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' के प्रथम अध्याय में ही 'कारकपाद' (१-४-२३ से ५४) में विभिन्न कारसंज्ञाओं का निरूपण किया है। और उसके बाद, द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद में 'विभक्तिपाद' (२-३-१ से ७७) रखा है। ये दोनों प्रकार के पाद परस्पर में मिलकर 'वाक्य' के सिद्धि दिखलाते हैं।

'अष्टाध्यायी' के 'विभक्तिपाद' (२-३-१ से ७७) में जो सूत्र रखे हैं, वे अलग-अलग प्रकार की विभक्तिओं का विधान चार तरह से करते हैं, वह निम्नोक्त रीति से है:–

१. अभिहित कारक के लिए प्रथमा-विभक्ति का विधान,

२. अनभिहित कारकों के लिए द्वितीयादि विभक्तिओं का विधान,

३. अकारक- विभक्ति के रूप में-

(क) षष्ठी-विभक्ति का विधान, और

(ख) विशिष्टार्थों की अभिव्यक्ति के लिए (बिना कारक-संज्ञा के व्यवधान से) द्वितीयादि-विभक्तिओं का विधान

४. वाक्यांश के रूप में–

(क) उपपदविभक्तिओं का विधान, तथा

(ख) कर्मप्रवचनीय विभक्तिओं का विधान।।

यहाँ पर पाणिनि-प्रोक्त वाक्यविन्यास की पद्धति में जो ध्यातव्य बिन्दु है वे इस तरह के हैं–

१. पाणिनि ने **लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः।**....सूत्र से सकर्मक धातुओं से क्रियापद की निष्पत्ति करते समय 'कर्तृकारक' को, या 'कर्मकारक' को "अभिहित" करने की विवक्षा को स्थान दिया है। और अभिहित कर्तृ/कर्म को प्रथमादि का विधान किया है (२-३-४६)।।

२. धातुमात्र से लगने वाले विभिन्न लकारों से जो कारक "अनभिहित" रहते हैं, उसके लिए **अनभिहिते। (२-३-१ से ४५)** अधिकारान्तर्गत आये हुए सूत्र से द्वितीयादि-विभक्तिओं का विधान किया है।

३. अकारक-विभक्ति के रूप में जो (क) षष्ठी विभक्ति को (२-३-५०) विधान किया गया है, वह सम्बन्ध-रूप 'शेष' अर्थ को व्यक्त करने के लिए षष्ठी-विभक्ति कही गई है। तथा (ख) कतिपय विशिष्टार्थों को व्यक्त करने के लिए, पाणिनि ने (बिना कारकसंज्ञा को माध्यम बनायें) सीधा ही विभक्तिविधान किया है। [उदाहरण रूप से - **कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे** (द्वितीया)। २-३-५, एवं **अपवर्ग तृतीया।** २-३-६ इत्यादि।

४. वाक्य के क्रियापद से जिसका प्रत्यक्ष कोई सम्बन्ध न हो ऐसे पदसमूह, जो कि एक 'वाक्यांश' के रूप में प्रधान वाक्य के बीच में प्रविष्ट होते हैं, उसको जन्म देने वाली (क) उपपद-विभक्तिओं का विधान, तथा (ख) कर्मप्रवचनीय प्रकार के पाँचवे पद के योग में जन्म लेने वाली द्वितीयादि विभक्तिओं का विधान किया है।

इन चार तरह से विभक्ति-विधान करके पाणिनि ने पूरी वाक्यविन्यास की पद्धति हमारे सामने रखी है। परन्तु यहाँ आलोचनीय और ध्यातव्य है कि इन चारों तरह से जो विभक्ति-विधान किया गया है, वह सब **अनभिहिते।** २-३-१ के "अधिकार" के नीचे रखा गया है। यह एक अत्यन्त गम्भीर चिन्त्य स्थिति है। क्योंकि–

जो अधिकारसूत्र होता है, उसकी अनुवृत्ति तो अनवरत गति से अपने अनुगामी सभी सूत्रों में होती है ऐसा पूरी 'अष्टाध्यायी' में माना गया है। परन्तु यहाँ पर तो – **'अनभिहिते'** (२-३-१) के नीचे जो **कर्मणि द्वितीया।** (२-३-२) सूत्र आया है, वह सुसंगत है, लेकिन–

१. **'अन्तराऽन्तरेण युक्ते'** (२-३-४) जैसा उपपदविभक्ति का विधान करनेवाला सूत्र सुसंगत नहीं है। क्योंकि पूर्वसूत्र (२-३-३) से तृतीयादि पदों की अनुवृत्ति आ जाने से २-३-४ सूत्र लाघवपूर्ण बनता है, परन्तु २-३-४ में 'अनभिहिते' (२-३-१) पद की अधिकार-प्राप्त अनुवृत्ति नितान्त अप्रस्तुत है। अप्रासङ्गिक ही है। यही स्थिति **नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालम्वषट् योगाच्च। (२-३-१६),** या **सहप्रयुक्तेऽप्रधाने।** (२-३-१९) इत्यादि उपपदविभक्ति विधायक सूत्रों में भी देखी जाती है।

२. उसी तरह से, **कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे।** (२-३-५) तथा **अपवर्गे तृतीया।** (२-३-६) जैसे सूत्रों से विशिष्टार्थों में (बिना कारक-संज्ञा के व्यवधान से) जो सीधा विभक्ति-विधान बताया गयाा है, उन सूत्रों में भी, 'अनभिहिते' (२-३-१) का जो अधिकार आ रहा है वह सर्वथा अप्रस्तुत ही बन जाता है।

३. एवमेव, **कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया।** (२-३-८) जैसे सूत्र से अमुक अमुक कर्मप्रवचनीयसंज्ञक शब्दों के योग में जो (रुढिगत) विभक्ति-विधान होता है, वहाँ पर भी **'अनभिहिते'** (२-३-१) सूत्र का अधिकार एकदम अनावश्यक सिद्ध होता है।

पाणिनि के **अनभिहिते।** (२-३-१) सूत्र से, एक हाथ पर वक्ता की विवक्षा को स्थान दिया गया है। जिसके कारण वह चाहे तो "कर्तृवाच्य" वाक्यरचना बना सकता है, या "कर्मवाच्य" वाक्यरचना बना सकता है। तो दूसरे हाथ पर जो पूर्वोक्त चतुर्विध विभक्तिविधान है, उनमें निःशेष रूप से 'अभिहिते' का अधिकार सुसंगत नहीं बैठता है।[२]

पाणिनि की इस **अनभिहिते।** २-३-१ सूत्रोक्त अधिकारान्तर्गत दी गई युक्तायुक्त व्यवस्था की तुलना में, आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने अपने 'सिद्धहेम-शब्दानुशासन' में विभक्ति-विधान की क्या व्यवस्था प्रस्तुत की है, वह समीक्षणीय है।

आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने भी, पाणिनि की तरह, कारक-संज्ञाओं का विधान करने के लिए शुरू में एक सूत्रसमूह द्वितीयोध्याय के आरम्भ में दिया है। जैसा कि–

१. **क्रियाहेतुः कारकम्।** २-२-१।

स्वतन्त्रः कर्ता। २-२-२

कर्तुर्व्याप्यं कर्म। २-२३.....से लेकर

क्रियाश्रयास्यास्याधारोऽधिकरणम्।। २-२-३० पर्यन्त

इन तीस सूत्रों के बाद,

२. विभक्ति-विधान करने वाले सूत्रों का समूह रखा गया है। जिसमें स्पष्ट रूप से तीन विभाग दिखाई देते हैं–

(क) **नाम्नः प्रथमैक-द्वि-बहौ।** २-२-३ सूत्र से "कर्मादि कारकों से परिशिष्ट अर्थमात्र में प्रथमा-विभक्ति होती है"–ऐसा कहा गया है। तत्पश्चात्–

(ख) **गौणात् समया-निकषा-हा-धिगन्तराऽन्तरेणाति-येन-तेनैर्द्वितीया।** २-२-३३ सूत्र से आरम्भ करके, २-२-११९ सूत्र तक के सूत्रों से गौण नामों से परे द्वितीयादि विभक्तिओं का विधान किया गया है।

(ग) अन्त में, २-२-१२० से १२४ तक के सूत्रों से जिन जिन निपातों के योग में एकाधिक विभक्तियाँ प्रसूत होती है, एवं जातिवाचक शब्दों से जहाँ एकवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग होता है– उसका विधान किया गया है।

विभक्ति-विधान करने वाले सूत्रों का उपर्युक्त त्रैविध्य देखकर, प्रथम दृष्टि में ही मालूम हो जाता है कि आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने पाणिनि से हटकर, अलग ही रास्ता अपनाया है। यहाँ पर, पाणिनि की तरह, १. अभिहित-अनभिहित (कारक) का विभागीकरण नहीं है। (ख) विशिष्टार्थों को भी सीधा विभक्ति-विधान नहीं है। ३. तथा वाक्यांश के रूप में एक अलग पदसमूह को जन्म देने वाली (क) उपपदविभक्ति या तो (ख) कर्मप्रवचनीय-विभक्तियों का भी स्वतन्त्र निरूपण नहीं है।।।

अवबत्त, यहाँ जो **"गौणात्.....२-२-३३"** से शुरू होने वाला विभक्ति-विधान है, वह अत्यन्त ध्यानास्पद है। क्योंकि पूर्वोक्त (क), (ख) एवं (ग)– इन सूत्र समूहों में से, यही (ख) **गौणात्.....**(२-२-३३ से २-२-११९) वाला सूत्रसमूह सबसे बड़ा है। और आरम्भ में रखा गया 'गौणात्' शब्द अनुवृत्त होता हुआ २-२-११९ तक जाता है। पाणिनि ने जो अनभिहिते। २-३-१ सूत्र से अभिहित (कारक) का विभागीकरण किया है, उसी सूत्र के विकल्प में आचार्य हेमचन्द्र ने यहाँ "गौणात्" पद रखा है। अतः हमारे लिए यह 'अनभिहित' पद, तथा तज्जन्य व्यवस्था, एवं 'गौणात्' पद, तथा तज्जन्य व्यवस्था जो प्राप्त होती है, वह तुलनीय बनती है।

आचार्य हेमचन्द्र सूरी ने 'गौणात्' पद में मूलभूत रूप से जो 'गौण' शब्द है, उसकी व्याख्या करते हुए 'स्वोपज्ञ-बृहद्वृत्ति' में लिखा है कि–

आख्यातपदेन असमानाधिकरणं गौणाम्। अर्थात्–वाक्यावस्था में, जिस नाम का क्रियापद के साथ समानाधिकरण्य नहीं होता है, उस नाम को "गौण" कहते हैं। ऐसे गौण नाम से परे द्वितीयादि सप्तम्यन्त (सारी) विभक्तियाँ प्रवृत्त होती है। आचार्य हेमचन्द्रजी ने इस 'गौणात्' पद के अधिकार से पूर्व में **"नाम्नः प्रथमैक-द्वि-बहौ।"** (२-२-३१) सूत्र से प्रथमा विभक्ति का विधान कर दिया है। परन्तु यहाँ पर यह बात नहीं लिखी है है कि प्रथमान्त पद का वाक्य में क्या स्थान होता है? इस बात की जानकारी तो हमें –**'शेषे।** (२-२-८१) सूत्र पर मिलती है– **प्राधान्यं च अस्य आख्यातपदसामानाधिकरण्यम्। तेन ततः प्रथमैव भवति।।** अर्थात् जिस नाम का सामानाधिकरण्य क्रियापद के साथ रहता है, वह "प्रधान" गिना जाता है, और ऐसे 'प्रधान-नाम' को प्रथमा विभक्ति में रखा जाता है।

इसका सार यह निकला कि, हेमचन्द्र सूरि के मत में वाक्यान्तर्गत पदावली तीन तरह की होती है। जैसा कि १. प्रधान नाम (प्रथमान्त-पद); २. गौण नाम (द्वितीयादि सप्तम्यन्त विभक्त्यन्त पदों) और ३. आख्यातपद (क्रियापद)।। अर्थात् आचार्य हेमचन्द्र ने "कारक-विभक्ति" के विरोध में – १. दो तरह की अकारक विभक्तियाँ (षष्ठी एवं विशिष्टार्थों में प्रयुक्त) द्वितीयादि); २. उपपद-विभक्तियाँ, तथा ३. कर्मप्रवचनीयविभक्तियाँ को अलगसा पृथक्करण ही नहीं किया है। इन सबको 'गौणात्' के एक ही अधिकार में रख दिये हैं।

जिसके फलस्वरूप वाक्यान्तर्गत नामपदों का 'प्रधान नाम' और 'गौण नाम' के रूप में दो तरह का ही विभाजन हो जाता है, और जो यथार्थ भी लगता है। क्योंकि वाक्यान्तर्गत इन दो तरह के नामपदों में से, जिसका सामानाधिकरण्य क्रियापद के साथ रहता है, वह प्रथमा-विभक्यन्त बनता है, और अन्य जो नामों का सामानाधिकरण्य क्रियापद के साथ नहीं रहता है, वे सभी द्वितीयादि-विभक्तिओं को धारण करते हैं।

दूसरी फलदायी बात यह भी सिद्ध हो जाती है कि–पाणिनि के 'अनभिहिते' (२-३-१) सूत्रोक्त अधिकार, जो यथार्थ रूप में अनुगामी सभी सूत्रों में चरितार्थ नहीं हो पाता है, यह कठिनाई / या असङ्गति का सामना हेमचन्द्राचार्य को नहीं करना पड़ता है।

एक तीसरे फायदे की बात भी यहाँ दृष्टिगोचर होती है। जैसा कि– षष्ठ्यन्त पद नित्य साकाङ्क्षपद होता है। क्योंकि षष्ठी विभक्ति जो 'सम्बन्ध' रूप अर्थ का अभिधान करती है, वह सम्बन्ध तो हमेशा के लिए द्विष्ठ होता है। अर्थात् – सम्बन्धमात्र दो सम्बन्धी पदार्थों में ही रहता है। अतः प्रश्न उठता है कि यदि सम्बन्धमात्र द्विष्ठ होता है, तो सम्बन्ध के प्रतियोगि पदार्थ को ही क्यों षष्ठीविभक्ति लगती है, और अनुयोगी पदार्थ को क्यों नहीं लगती है? "राज्ञः पुरुषः" जैसे प्रयोगों में "राज्ञः पुरुषस्य"–ऐसा क्यों नहीं होता है? इस तर्कनिष्ठ प्रश्न का उत्तर पाणिनीय व्याकरण में "रूढि के कारण ऐसा होता है।" या "संस्कृत भाषा की यह यादृच्छिक-लीला है" – ऐसा दिया जा सकता है। परन्तु हेमचन्द्राचार्य के व्याकरण में षष्ठी विभक्ति का विधान भी "गौणात्" के अन्तर्गत ही है, इसलिए 'स्वोपज्ञबृहद्वृत्ति' में लिखा है कि – गौणादित्येव – राज्ञः पुरुषः, अत्र सम्बन्धस्य द्विष्ठत्वेऽपि प्रधानात् पुरुषान्न भवति।।

प्राधान्यं च अस्य आख्यातपदसामनाधिकरण्यम्, तेन ततः प्रथमैव भवति, यदा पुरुषो राजानं प्रति गुणत्वं प्रतिपद्यते तदा "पुरुषस्य राजेति" भवत्येव।। (पृ.-२७४)

अर्थात्– राज्ञः पुरुषः।। जैसे प्रयोगों में स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध यद्यपि द्विष्ठ होता है (राजा) में भी वह सम्बन्ध रहता है, और पुरुष में भी); तथापि 'पुरुष' ऐसे नाम में प्राधान्य आ जाता है; और वह प्रथमा विभक्ति ही धारण

करता है। संक्षेप में कहे तो – पाणिनीय व्याकरण में 'राज्ञः पुरुषस्य' – ऐसा उभयत्र षष्ठ्यन्त प्रयोग क्यों नहीं होता है? – इस प्रश्न का उत्तर नहीं है; परन्तु हेमचन्द्राचार्य के व्याकरण में इसका तर्कनिष्ठ उत्तर है।। सूक्ष्म-सूक्ष्मतर शास्त्रीय चर्चाओं के प्रसङ्ग में ऐसी छोटी सी दिखने वाली बात भी मेरु पर्वत जैसी गुरुतम बन जाती है। सिद्धहेमशब्दानुशासन कि यह एक अनुल्लिखित उपलब्धि है।।

संदर्भ

१. हेमचन्द्राचार्य समारोह, उत्तर गुजरात युनि., पाटण(गुजरात) (२८.२९ थ्मइण.२००८) में प्रस्तुत शोध आलेख

२. यहाँ पर, "पाणिनि के इस अधिकार प्रवर्तन में क्षति है" – ऐसा निर्णय देना अनुचित कहा जायेगा। क्योंकि सम्भव है कि उपपदिभक्ति एवं विशिष्टार्थक-विभक्तियाँ, या कर्मप्रवचनीय-विभक्तिओं के विधान करने वाले सूत्र प्रक्षिप्त भी हो सकते हैं।